

सागरोत्पत्ति

पूर्वाचार्य विरचित तपागच्छ विवेचनाका संस्कृत तथा हिन्दी अनुवाद।

अनुवादक—

— खरतरगच्छीय —

यति श्री सूर्यमलजी महाराज।

श्रीयृत नौबतराय बदलिया।

मन्त्री—जैन प्राचीन इतिहास प्रचारक समिति ३१. बांसतव्ला गली, बड़ाबाजार, कलकत्ता। सन् १६२६ ई० वीर सं ० २४५५

उपसहार ।

माननीय महोदयो-

बहुत दिनोंसे जैन समाजमें तपागच्छोय विषयको ले कर नाना प्रकारका वाद्विवाद फैला हुआ है। परन्तु शोकका विषय है कि अद्यावधि इस समाजके किसीमी माननीय सज्जनने इस वाद्विवादको इति श्री करनेकी प्राणपण से चेष्टा नहीं की है। परन्तु, विवादको और भो प्रज्वलित करनाही अपना पाण्डित्य तथा वीरत्य समभा है। इस प्रकार अग्निमें घृताहुति प्रदान करनेवाली कहावत चिरतार्थ कर शान्ति स्थापित जैन समाजमें पुनः उत्पान खड़ा करके जनतामें विद्रोह फैलाने की पूर्ण चेष्टा की गई है। समक्तमें नहीं आता कि जैन समाजको विद्रोहावस्थामें देख कर इन रजनीके लालों को क्या आनन्द प्राप्त होता है?

चार शताब्दि पूर्ज धर्म सागर नामक किसी एक अन्य ब्यक्तिने खण्डनात्मक साहित्य प्रकाशित करके शान्ति स्थापित जैन समाज में प्रज्वलित विरोधाग्नि फैलाने की पूर्ण चेष्टा की थी। परन्तु, उस समय किसो सुयोग्य व्यक्तिने इस दुरा-प्रही धर्म सागरके खण्डनात्मक साहित्यको जल शरण कराया और समाज में पुनः शान्ति स्थापित की। खण्डनात्मक साहित्य प्रकाशित करनेके प्रायश्चित स्वरुप उस (धर्मसारको) तपाणच्छसे बहिष्कृत भी कर दिया गया।

आज भी उसी की परम्परानुगत पीताम्बर आनन्द सागर नामधारी उसी विवाद को पुनः जैन समाजमें प्रकाशित कर अपनी योग्यता तथा पाण्डित्य का परिचय देकर सुशुष्तावस्था के समुद्र के आनन्दमें मग्न हो रहा है। आपने (क) इर्या पथिकी षट्- त्रिंशिका (ख) नवपद छघुवृति तथा (ग) नवपद वृहद्वृति नामक तीन अन्थोंको प्रकाशित कराया है। परन्तु शोकका विषय है कि अद्यावधि तपागच्छीय सम्प्रदाय वालोंमेंसे किसी भी सज्जनने उनके इस कुत्सितकार्य की समालोचना नहीं की है। इस से यह निर्विचाद सिद्ध होता है कि समस्त तपागच्छीय सम्प्रदाय आनन्द सागर के इस कुत्सित कार्यमें सहानुभृति प्रकट करता है।

इन्ही कई कारणोंसे मुझे इन प्रन्थों के प्रतिकृत (विरुद्ध)
आवाज़ उठानो पड़ी। इस कार्य का पूर्तिके लिये मुफे अनेकों
ऐसे प्राचीन प्रन्थोंका अनुसन्धान करना पड़ा हैं जिसमें तपागच्छीय सम्प्रदायकी पूर्ण खण्डनात्मक आलोचना करनेकी
सामग्री एकत्रित की गई हैं। इस अवसर पर मैं अपनी
हार्दिक अभिलाषा पाठकोंके सामने प्रगट कर दैना उचित समफता हूं कि अनवरत परिश्रम करके प्राचीन खंडनात्मकग्रन्थों
का अनुसन्धान करने पर भी मैं नहीं चाहता था कि इन प्रन्थो
को प्रकाशित कराऊं। इसींलिये, मैंने आगमोइय समिति
जीन कान्फरेन्स, अनिन्दजी कल्याणजी के कार्यकर्ता गण
ध्रित बहुम विजय जी तथा कान्ति विजय जी आदि साधुवर्ग

तक्ष समाचार पत्रों द्वारा इन प्रन्थोंके
प्रकाशित करने की सुचना भी दे दी है तथा इनके खंडनात्मक ग्रन्थोंका सैकड़ों स्थानों तथा नगरो से बहिष्कार भी
कराया है। परन्तु, आज तक तपागच्छवाले कानमें तेल
डाले अपनी डफली अलगही बजा रहे हैं।

अतएव, मुझे लाचार होकर "आनन्द सागरके व्याकरण की पोल" नामक एक लघुपुस्तिका निकालनी पढी। पाठकाणों को तपागच्छोय संघ की परम्परा तथा इनके घर घरमें विद्रोह का नम्ना और इनके वाहा। इम्बर का आदर्श प्रदर्शित करनेके लिए मैंने फिर भी "सागरोत्पत्तिकी पोल नामक प्राचीन पुस्तक वालका अनुवादकर प्रकाशित करानेका प्रयत्न किया हैं। यह पुस्तक पाठक बृन्दों को दर्पणवत साफ़ र प्रत्यक्षीभृत (प्रकाशित) करा देगी कि तपागच्छायाले किस प्रकार अपने योग्य एवं पूज्य पुरुषों का पूर्व से ही आदर सतकार अपशब्दों (गालियों) तथा लाञ्छनाओंसे करते आ रहे हैं। अर्थात् अपशब्दों च्यारण इनकी वंश परम्पराक्ता अभ्यास हैं। यदि आजक्र इनके मुखसे किसी आचार्य के प्रति अपशब्द (गालियां) निकलते हैं तो कोई वड़ी आश्चर्य की वात नहीं हैं।

सारांश यह है कि मैंने इस प्राचीन ग्रन्थ का हिन्दी रूपान्तर करनेका साहस के 1ठ दो कारणोंसे किया है। प्रथम, तपाग-च्छोय संघ तथा सागर शासके अनुरक्त भक्त, अमावस्थाके चन्द्र-वत् देदीप्यमान, मूकवाचस्यति श्रोसागरानन्द्रजीको सूचित करना है कि अब भी वे इस वृद्धावस्था में सुमार्गंका अनुसरण कर यावत्जीवन जैन समाज की कुछ सेवा कर शान्ति स्थापित करें और यशके पात्र वने। अन्यथा, उनके द्वेषाग्निकपी ज्वरको शान्त करनेके छिये मेरे पास प्राचीन ग्रन्थों से प्राप्त सामग्री कपी कुनैन की गोछियां भरी पड़ी हैं। तुरन्त ही उनका ज्वर शान्त कर दिया जायगा और उनके कुकृत्योंके कारण उन्हें गच्छसे वहिष्कृत कर देनेकी भी नौवत आ जायगी।

द्वितोयतः पाठक तथा जनतासे अनुरोध करना है कि वे इस पुस्तकको ध्यान पूर्व क, दत्त चित्त, होकर पढ़ें और सागरियों कि गुरु परम्परासे भिन्न होकर और उनके कुकृत्योंको समभ कर उनके चङ्गळी से सर्वदा वचने को चेष्टा करते रहे।

इन्ही दो कारणोंसे मैंने इस पुस्तको लिखा है। तथा पाठकवृन्द को इससे कुछ मो फायदा होता हुआ समझूंगा तो पुनः उनको सेवामें तीसरा पुष्य शीघ्रहो मेंट बढ़ाऊंगा।

सर्य्य मल यति ।



क सागरोत्पत्ति क्ष

जिनां श्री पार्श्वनाथरञ्ज पार्श्व यक्षेत सेवितम् । नत्वा तपा मतोन्यत्तिः सम्मग्रीत्या मयोच्यते ॥१ भो भो चांडालिका लोके यथा द्रष्ट' यथा श्रातमः तथैव छिष्यते चात्र मम दोषो न दीयताम ॥२ पुरा किला अवश्वैत्य वासीवे मठधारकः मिणरता भिधा चार्घ्यः स्तम्भनाख्यं पूरे वरे ॥३ एकदा मणिरत्ने न जगच्चन्द्रा भिधोर्भकः। त्रिशतै रूप्पकै: अनो विज्ञाति विधवातमञ्हः ॥४ शिष्यत्व मगमत्तस्य सततं यतिभिः समम्। राटि करोतिः दुर्मेधा शिक्षितोपि न मुञ्जति ॥५ खिन्नेन मणिरत्नेन स्वगणात्सवहिष्कतः क्रोधाध्मातो गणं त्यवत्वा हंपदेन विनिर्ययौ ॥ ६ स्वगुरून् दृषयं श्वान्यान् वक्वृत्तिं पधारयन्। निन्दकत्वात्स सर्वेषां धिकपात्रं दुर्जानोऽजनि 🐞 तेनाथो क्थिष्ट चाण्डालो सेविता गत्य सावदत । भोयावत्व' प्रकुर्वीधाः तव शिष्याश्च वा यदा ॥८ सम्मार्ग निन्दनं लोके उन्मार्गस्य प्रवर्त्तनम्। सत्संघ खण्डनंचैव तव सिद्धिभविष्यति ॥ ६ इति तस्मै वरंदन्त्वा साजगाम ततः परम्। चांडाली मत्त सम्पन्नः सप्रसिद्धिं गतो भूशम ॥१०

(२)

चांडालीक प्रभावेण स्तम्भने कतिचिज्ञनान । व्युत्र न् मूर्खांश्च पक्षेऽस्मिन् इत्वा सुरिर्वभूवह ॥११ कदाचिद्रगुर्ज्ञ रे देशे शिष्यैः सह जगामसः। उत्सूत्रं कथयन्नास्ते स्वमतस्याभि वृद्धये ॥१२ तत्रत्य रामचन्द्रादि संघेनाहृय कोर्तितः। वादंकर्तुः सभामध्ये तथापि नागतः खळुः ॥१३ शिक्षां संघस्य दुव्द्धः नजग्राह ततः परम्। ताड़ितोऽपि न तत्याज स्वीयंमूहो दुराब्रहम् ॥(४ वहिष्कृतं करिष्यामः शीव्रमस्मादिमंखलम् । इति वार्त्ता ततः श्रुत्वा भयमोतोऽभवत्तदा ॥१५ स्वतृत्यं गुरु द्रोग्धारं बालचन्द्रं विचार्य्यसः। समर्थ्य निशि संघे तं द्रृतं रात्रीपळायितः ॥१६ समारुह्यौं विकंयानं शोघं सस्तम्भने गतः। पत्तनादहमित्येवं लोकानां प्रतो वदत ॥१७ तदानीं करिपता लोका ज्ञात्वातद्वचनं ततः। जनौरुचे भवानत्र त्वेकाकीकथमागत॥१८ सम्भाव्योपद्रवं किश्व दौष्ट्रिके न समागतः। गुज्ज रादह मित्येव लोकानां पुरतोवदत् ॥१६ तद्वाक्यं किंपतं छोका ज्ञात्वा प्रोसुस्तदा ततः। औष्ट्रिकोयं भवेदस्य शिष्य वा औष्ट्रिकामता॥२० जगचन्द्रोथ तच्छिष्या तद्वका प्रथिता इव। कृ द्ध्वा राटि' प्रचस्कुतैः तपा संतापदायतः ॥२१

(3)

औष्ट्रिकेनापियुक्त'ते तपौष्ट्रिक पदांकिताः। तत आरम्य नाम्नाते तपा गच्छीय संघकाः ॥२२ तपधातुस्तु संतापे नापयन्ति जनान् यनः। परूष्यैर्वचनैर्नित्य मतस्त्वमें तपाःस्मृताः ॥२३ वाद्यक्रियां दर्शयन्तो मोहयन्तो जगज्जनान् । तपोभूता अटन्तीति तपोटाः प्रकीर्तिताः ॥२४ सेवितोच्छिस्ट चांडाली देवो प्राप्त वरेणते। कोधान्नि ध्मात चिन्तत्वा तुलोके चांडालिका मताः ॥२५ अज्ञान तपसा युक्ताः कोधादरुण लोचनाः। औष्ट्रिके न प्रसिद्धत्वा दैतेत्वौष्ट्रिक तापसाः ॥२६ गते बहतिथे काले नपस्या करणाद्वयं। तपा इति प्रसिद्धास्मः कथ्यन्ते तस्य शिष्यकैः॥२७ दैवेन्द्र क्षेम कार्यादि सुरिभिस्तस्य शिष्यकैः। तपा नामेति नालेखि अन्थेस्व रचिते क्वचित ॥२८ अतो बुधानु जानन्तु तपानाम्नोनि रुक्तिकम्। अलेखा च्छिष्य वर्गाणां तथा नम्नि विवादताम् ॥२६ पाक्षिका दिषु वाच्याथ मत्कृतापुज्य संस्तुतिाः । त्वयेति वाल चन्द्रेण वचः पालायनक्षणेऽ ॥३० तदानीं वालचन्द्रस्तुतिभी रिक्षतो रहः। परन्तु गुहवाक्यं तत् पालयामास नो यदा ॥३१ मृतश्व व्यन्तरो भृत्वा गुर्वाज्ञाया अपाल नात्। सतत्संघ मुपद्गोतं प्रवृतोथ दिने दिने ॥३२

(8)

ज्ञात्वा व्यति करतस्य ते नाथ पाक्षिका दिषु। स्नातस्या सकलाईतत् स्थापितं बिघ्न शान्तये ॥३३ अद्यापि तदमये नैय भणन्ति पाक्षिका दिष । स्नातस्या सकलाईटकं चाण्डालिकमनानुगाः ॥ ३४ ततोन प्रथिता लोके तहिनास्तत कृतास्त्तिः। तन्मते उद्विना नैव पाक्षिका दिषु कल्पते॥ ३५ अधैकदा जगच्छन्द्रः चित्रकृटे पुरे गतः। सन्ति दिगम्बरा चार्घ्याः विद्याश्रुत बलोर्जिताः॥ ३६ किञ्चिज्ज्ञत्व मदालीढः तत्रापि मत्पुष्टये। जगच्छन्द्रः समंन्तैश्च बिवादायतुपस्थितः ॥ ३७ पराजितो भवेच्छिष्यः त्वथवास्मिन्परेऽखिले। गर्दभेतं समारोप्य भामयेदभवत्यणः॥ ३८ विवादे जायमानेथ विदुषामग्रत स्तदा। अचेल सत्ककल्पेन प्रश्नोंत्तर विचारणे ॥३६ पराभृतो जगच्छन्द्रः तै दिगम्बर सुरिभिः। तथापि ना भवच्छिष्यः दुर्मतिस्तु तदा ृतः॥ ४० श्वेताम्बरीय संधेन तत्रत्येन तपौष्टिकः। वराकः संघवाह्यत्वात् निन्दकत्वा द्पेक्षितः ॥ ४१ दिगम्बरीय संघोन ततश्चा रोप्य गर्हभे। विदुषामनुमत्याच भ्रामितो सौ पुरे खिले॥ ४२ जगच्छन्द्राय विद्वद्धिः गर्भो विरुदोददे। ततः श्याम मुखो भूय गतो सौ स्तम्भने पुरे ॥ ४३

(4)

स्वातमोतकर्ष स्वभक्ताग्रै। दश्यनस ननद्वै। जित्वा दिगस्वरान प्राप्तो विरुदो गर्द भो मया ॥ ४४ जानन्तोऽपि वयः सत्यं मन्यन्ते तन्मतानुगा। स्वमातुर्गर्भदोषेण मिथ्या भाषीत्व जायत्॥ ४५ स्वात्वना खिन्न मनसा समोपं स्व गुरोर्ययौ। परं दुर्विनयत्वान्सः गुरूणापिन रक्षितः॥ ४६ ततः श्च वस्त पालेन समं मैत्रींचकारसः। विधवा गर्भ जातेन वस्तु पालेन सज्जनाः ॥ ४७ व्यवहारन्न कुर्वन्ति बणिजा शङ्करेणते। वस्त पालं वशेकृत्य तद्दत्त दान द्रव्यतः॥ ४२ अन्यान बहुन वशे कृत्य स्थापया मास संघकम्। ततो दशा विशेत्यैवं वणिक जाति द्विधाभवत् ॥ ४६ तदा महा विरोधोभृत् चिणग्जातौ परस्परम् । जगच्छन्द्राय लोकोथ शांकरं विरुदं ददौ ॥ ५० तथापि स्व स्वभावेन काकबन्नहि मञ्जति। श्री चैत्रवाल गच्छीयो विहरं स्तत्र त्वागतः॥ ५१ क्रियावान् श्रुत सम्पन्नों देवभद्राख्य पाठकः॥ ५२ तद्विस्दापनोंदार्थं संगृहीत्वोपसं पदम् ॥ ५३ शिष्यत्वमगम तस्य बस्त पालो परोधतः। गुर्वावल्यां कृतायाञ्च मुनिसुन्दर सूरिणा ॥ ५४ त्रोक्तातेन गृहिताचोपसम्पत्तत्समीपतः ॥ ५५ अथ चैत्र पुरे वीर प्रतिष्ठा कृद्धनेश्वर:। चैत्रगच्छे भवतसूरि तस्मात्चैत्र गणि भवति ॥ ५७

(**\xi**)

कालाद्भवन चन्द्राह्वः तत्र जज्ञो गुरूगुंणी। शुद्ध संयम धी स्तस्य देवभद्रश्च वाचकः॥५७ श्रीदेव भद्राविधवाच केन्द्रात् जातो जगच्छन्द्र गुरू प्रवृद्धः । अथोप सम्पद्धिधना प्रपद्य सतद्वितीयो धुरमस्यदध्रौ ॥ ५८ विजयेन्द्राख्य देवेन्द्रौ द्वौशिष्यौच बभ्वतुः। आभ्यां द्वाभ्याञ्च शिष्योभ्यांबहवः सूरय कृताः ॥ ५६ श्री वृहत्करूप टीकाया प्रशस्तौ कथितास्त्रयः। दैव भद्रस्य शिष्यास्ते श्रीक्षेप्त कीर्ति सूरयः॥ ६० श्री जैन शासन नभस्तल दिग्म रश्मिः श्रीपद्वम चन्द्र कुळ पद्म प्रसिद्ध नामास स्वज्योतिरावृत दिगम्बरो दुबरो भत् श्रीमान धनेश्वर गुरुः प्रथितोहि लोके॥ ६१ श्री मच्चैत्र पुरैक मण्डन महा वीर प्रतिष्ठा करः तस्माच्चैत्रपुर प्रवोध तर्राणः श्री चैत्र गच्छो भवत् तत्र भुवने = स्रि गुरवः भूभूषणं भासुराः ज्यौति संवृतज्ञान युत सुधियः सन्मार्ग संचाल का ॥६२ ज्योतिः सद्गुण रत्न रोहण गिरिः कालेन नीताइमे एषां सद्गुरुरेव शास्त्र कुशलः श्रो दैवभद्रो गुरूः शुद्धः संयमवान् चरित्र कुशल स्यातोयतिः सदुगुणी तैरेबाथ समस्त ज्ञानि यतयः संधारस्वके निर्मिताः ॥ ६३ तस्याथ भ्रिष्याः प्रथिताहि छोके

त्रयो वमूबुर्जित काम दोषाः आद्यो जगच्छन्द्र प्रसिद्ध नामाः देवेन्द्र सूरिस्त्वपरोथ जातः॥ ६४

(9)

तृनीय एषां विजयेन्दु सूरिः येषां यशोभिधवली क तादिक एषां प्रतिष्ठा विजयोध कीर्तिः धीः संयमः सदुगुण ज्योतिरुत्रत्रम् ॥ ६५ तेजोथ विद्या जगति प्रसिद्धा एभ्यश्च देवाः प्रदहः स्वतेजः स्थैय ज्वमेठज लिधर्म भीरं रुपञ्चभानः क्षमतां क्षितिवैं।। ६६ य रप्रमत्त रशुभ मनत्र जापैः वैतालमाधाय कृतं स्ववश्यम्। अतुस्य कस्याण मयोत्तमार्थाः सत्प्रुषः सत्व मयस्त्व साधि ॥ ६७ तेषां प्रसिद्धो विजयेन्दु सूरिः, बम्ब छोके प्रथितो महतमा। यदत्त हस्ताग्र करावलम्बाः. शिष्यास्त्रयो विभ्रति गच्छ भारम ॥ ६८

श्री बज सेनो यति पद्म चन्द्रः श्री क्षेप्त कीर्तिस्तु तृतीय एषाम् । सविज्ञ वृथ्यों बृत्ति कत्य श्रन्थं चकार लोकस्य हिताय स्तिः । ६ १ श्रो बिक्रमान्तेत्र कृशानु बह्नि, क्षितिमिते वर्ष मयेऽद्ध लयेष्ठे । शुक्ले दशम्यां करपयुक्त, भानौ वारे कृतस्तेन सन्नृत्तिकत्यः ॥ ७०

> देवेन्द्र सूरिणाप्येवं विद्यमानेन तत्क्षणो । श्री धर्मा रत्न टोकायाः प्रशस्तौ जल्पितं पुनः ॥ ७१ जातः क्रमाचे त्रक बालगच्छैः श्रीचन्द्रसूरिभुवं ना दिरेषः

(2)

समस्त संसार हिताय यस्य, तेजोथ लोकेतुदितं वभूव ॥७२ विनेयकस्तस्य शमैक वृत्तिः, श्री दैवभद्रो गणिरेष पूज्यः। , सस्वर्ण वर्णो विदितोनुळोके, यतिर्महातमा शुचिशुद्धचोताः॥ ७३ तत्पाद पद्मार्च्चन शुद्धचेताः, सुशुद्धवोधाजित संग दोषा । जयन्ति लोकेथ जगत्प्रसिद्धा श्री श्री जगचन्द्र यतिप्रवोरा ॥ ५४ तेषां विनेयौ यति पूज्यवय्यौ , देवेन्द्रसूरि प्रथमश्च तत्र । श्री चन्द्र सुरिवि जयादिनामा, द्वीपुज्यवण प्रथितीहि लोके ॥९५ स्वान्ययोरुण्काराय. श्री मह वेन्द्र सुरिणा। धर्मरतस्य टीकेयं सुखबोधा विनिर्ममे ॥ ७६ श्री क्षेमकीर्ति सुरिभिः कथयित्वा परस्परं। दर्शयद्विर्यातीशैस्तैः विद्यमानै श्वतत्क्षणे॥ ७७ श्री चैत्र वाल गच्छीयो जगच्चन्द्रः प्रकीर्तितः! मुहस्तुदेवभद्राख्यो, वाचकोन्योन कीर्तितः ॥ ७८ मुनिः सुन्दर सृरिभिः, पश्चात्यैः सृरिभिः पुनः । स्वकल्पित पटा वल्या मित्थां लिखित मस्तिवै॥ ७६ मुनीन्द्र गच्छे जनिता, यतीशाः देवेन्द्र सुरिवि जयेन्दुसुरिः। श्री देवसदृश्च किलामी भूषा, स्वरूप रूपा यतिपूज्य वर्य्यः ॥ ८० श्री देवमद्रो गणिराज राज्ये मानं बहुन जोक प्रसिद्धकीर्तिः। सविज्ञ वय्ये सपिच्छद्स्सः गुरुं जगच्चंद्र यति समेजे ॥ ८१ अत्र पश्चान्सकालीनैः सूरिभि स्तुतपा गणः।

अत्र पश्चान्यकाळोतेः सूरिमि स्तुतपा गणः। जगच्चंद्रो गुरुदेव भद्रादीनां प्रकटिपतः॥ ६२ पुनस्ते रेव कथ्यंते जगचंद्राख्य सूर्यः। उपसंपदुगृही त्वात, देव भद्रस्यशिष्यकाः॥ ८३

(&)

पुनस्तीग्र हराख्यातो जगच्चंद्रो यतीश्वरः। प्रोक्तः कथं भवेच्छिष्य उपसम्पत् प्रदायकः ॥ ८४ क रिचत्पुनः प्रजल्याक रित्युक्त च चकारसः। जगच्चंद्रः कियोद्धारं देव भद्रोप देशतः॥ ८५ यथा ब्रह्मा द्विजै: पूज्यः द्विजः पूज्याश्च ब्रह्मणा। तथा चास्तु गुरोशिष्ये शिष्यस्यास्तु गुरोवपि ॥ ८६ थ्री चैत्रबाल गच्छीयं देव भद्रं गुरुं पुनः। निह्न वन्तेहि पाश्चान्त्याः जगच्चंद्रस्य शिष्यका ॥ ८७ कि सत्यं किमसत्यंवा, परं पूर्व न निर्णित्म्। निर्णयस्तु बुधैः कार्य्यः सत्या सत्य विवेकिभिः ॥ ८८ अथ प्रान्ते जगच्चंद्रः सूरिः स्वशिष्य वर्गकम्। गुरु भ्रात्रे देवेन्द्राय समर्प्य सोगमहिवम्॥८६ शिष्या गुरुं यति तत्र देवेन्द्रं भोजिरे पुनः। स्चर्ग गतेथ देवेन्द्र विजयेन्द्रञ्च भे जिरे ॥ ६० तान् सम्यक् पालयामास बिजन्द स्तथापिवै। जगच्चंद्रस्य शिष्यावै नानुगच्छन्तिवश्यताम् ॥ ६१ ततः कांश्चियतीन वृद्धान् स्व वशे कृत्यते तथा। मदोन् मत्ताः पृथग् भृताः विजयेन्दो सुरेदछात् ॥ ६२ देवेन्द्र सूरि पट्टेतुं स्थितोधर्म रुचियंतिः। स स्रिधमधोषाख्यो जगन्मान्यः वियो भवत्॥ ६३ ततो निस्कासिता गच्छात् स्थापयित्वा स्वगच्छकः। बिजयेन्ड्र सूरिं सवे निन्दन्तिस्य शठाइव ॥ ६४ स्व काल्पत पटा वल्यां तस्य निन्दात्मकं वचः।

(१०)

िनजात्मोत्कर्ष बृद्धाक्यं व्यलेखितैर्मदोद्धतैः॥ ६५ विजयेन्दोः सूरेस्तत्र वृद्धशाखा ततः परम्। लघुशाखा जगच्चन्द्र शिष्याणां साभतव् तदा॥ ६६ स्व कल्पित पटाबल्यां देवेन्द्र सुरितो भवत् । ळघु शाखोति यैः प्रोक्ता तत्सत्यं सत्यवादिनाम् ॥ ६७ प्रशस्तौ स्वोक्त शास्त्रादौ कृतास्तृतिः परस्परम् । देवेन्द्रश्लेमकीर्त्यादि सूरिभिस्तु विचार्य्यताम् ॥ ६८ परं कुत्रापि निन्दातैः युष्मद्वादिलखिता नहि। युष्मद्वाचाहितत्पश्चात् भेदो विज्ञायते यतः॥ ६६ अथ स्वामत रक्षायै स्वान्यदुर्गति दायकाः। उत्र स्वभाविनो मन्त्रा धर्म घोषेण साधिताः ॥ १०० स्तम्भना कर्ष विद्वेषोच्चाट कर्षण मारकाः। मंत्रा-संसाधितास्तेन धर्मघोषेण यत्नतः ॥१०१ श्री चैत्र बालगच्छीयः संघः संतापितश्चतीः। संघ संताप कारित्वात तपासंघः प्रकीति तः ॥ १०२ सतदुर्वाः क्रमाञ्जातो यानवाही परित्रही। तथापिस्व यंतित्वंहि लोके प्रख्याप यत्यसौ ॥ १०३ बीरात्परं परायाताः बयंने पट धारकाः। नान्ये चैत्य गणाः सर्वे बद्दन्तस्तेन लज्जिता ॥ १०४ निष्काशिता गणाधीशै हिति कारणत उचते । धर्म घोष' समाश्रित्य कृतजन्तः परं पराम् ॥ १०५ तमेव गुरुमा श्रित्य धर्मघोषादि सूरथः।

(११)

तत् कालीनो जगच्चन्द्रः गुरूतुत्यो वभूवह । यत्यू दुयोतन सुरीणाम् संतानीयो महामतिः॥ १०६ क्रियाचान् मणिरत्नाख्यः कश्चित्सूरिवं भुवह । यतः चात्र क नामानो द्रश्यन्तेवहवोजनाः ॥ १०७ स्वकल्पित पटाबल्याां लिलुखुः स्वपरं पराम् १०८ पाठको देव भद्रोऽपि देवेन्द्र विजयेन्द्रकौ । जगच्चंन्द्र स्पतस्यांते शिष्यन्द्रवेन प्रकल्पिताः १०६ यतस्तत समयेस्रे रुधोतन यतेकिल। संतानी यास्त सर्वेषि संविश्लोग्न बिहारिणाः ११० कियावतश्च संबे 'ऽपि श्रय'तेते कथांनन् । अन्यपार्श्वे हितन्छिष्पा गृहणो युरुप सम्पदम् १११ उपसम्पद् गृहीतृत्वात् जगच्चन्द्रस्य शिष्यकः नास्ति किन्त्वपरस्यैव' र्माणरत्नस्य कल्पचित् ११२ चैत्रवाल गणात्प्राप्य दीक्षां तत् संघकं पुनः। अस्यैव मणिरत्नस्य शिष्यश्चेत्रत्कथन्त्र सः परिवारान् विहायास्य कथमन्यानु पाश्चेत् ११३ विनिन्यहीना चारश्व वभूबुर धमाः खळा: ११४ कि'श्व तेषां परिवाराः पूज्याव स्तुति वन्दनै : स्वकल्पित पट्टावल्यां युष्माभिः स्वीकृता कथम् ११५ निन्दा प्रशंसा वा तस्य विरुद्धा नहि सम्भवेत । अतोस्य शिष्यो नैवास्ति जगच्चन्द्रो विबुध्यताम २१६ अथवा गुरूणात्यकः त्यागे ब्राहेच सम्भवेत् । परन्तु गुरुत्यक्तंकं कोबिदो मन्यते यतिम ११७ असत्यस्तुति कर्तारो यूयम सत्यवादिनः। गुरुज्भितानां मन्दानां कथं पूजा प्रचारिता ११८ अतोयंचंत्यवासीवा कम्चितन्नाम घारकः। तमाश्चित्यचपाश्चात्यैः कल्पितेयं परम्परा ११६

(१२)

यादिवा भाभिषा श्रे व्विकृतो शत्र जयेजिरी। द्वादश्चर्योजनैदीर्घाः हैमरूप्पमयोध्वजा ॥ १२० ॥ श्रायास्यतिच देवेन्द्रः, सुरिरत्र महायतिः। सं दास्यति च व्याख्यान, मित्यादि कल्पितं पुनः ॥ १२१ ॥ तथा प्रदुष्टाद्नेस्थाने यमणा षोड् शिकानिशा। एनत्सत्यप्रसत्यं तदः, सर्वं कल्पित धेववत् ॥ १२२ ॥ सं वद बाखेभ पांगीन्द्र, वर्षेराज्ञः तपाभिधः। तपसावि रुदः प्राप्तः जगचन्द्रे ग्रा पर्षे दि ॥ १२३ ॥ यचालेख्यन् मानेन, मुनिसुन्दरस्र्रिणा । गुर्बावरुवांन्ववैर्दन्तः, विरुदः सोपिकरिपतः ॥ १२४ ॥ दोत्तोप संपदा चाय्याः नैव वर्षेत्रसंस्थिताः। जगचन्द्रं न जानन्ति, तत्त्त्त्त्यो तद्विचार्यताष ॥ १२५ ॥ यदि ययं न जानीयः कथ्यन्तांतद्व वद्र गुरोः। पद्मोमासञ्च वर्षं भ्वः तिथिर्वातद्विनिर्णये ॥ १२६ ॥ विरुद्दस्तुनुयैद्ताः इति सर्वञ्च कल्पितम्। संशोध्य सर्वे वक्तव्यः पन्यथा वचनं द्या ॥ १२७ ॥ देवेन्द्र सुरि शिष्वेग्यः, विद्यानन्देन कथ्य ते । तत्सर्वे कल्पितंज्ञात्वा, निर्णयस्तु विधीयताम् ॥ १२= ॥ वैश्वित्सूरिपदे संवत्, गुणदन्तेन्द् वत्सरः। त्वदीमैन्व पुनः संवत्, वेद खाग्नीन्द् वत्सरः ॥ १२६ ॥

({3 }

कैश्चि देवेन्द्र पहे सः, कैश्चिन्नैवतु गएयते । परस्परं विरुद्धत्वातुः कल्पितेयं पर्रपराः ॥ १३० ॥ विज्ञायतेहि पाञ्चात्यैः, पाक कालोनैः कदापिनो । एवं तपाख्य हिंभस्यो, त्पात्तिः कोर्तितामया ॥ १३१ ॥ कालक्रपेण संयाताः, वहशाखा अनेकशः। श्रहंयुत्वाचते सर्वे, विवदन्ते परस्परम् ॥ १३२ ॥ विरुदं लभपानास्ते, सेनाया कुभटा इव । तथाहि देव सुरेस्तुः श्वाखानुष्टा घसेडिया ॥ १३३ ॥ तपा प्रवर्शकचास्या, विजयो देवयुग्यतिः । सागरिका प्रपच्चेन, यतिभिः कलहोपहान् ॥ १३४॥ जातस्तस्य सुरेर्गच्छे, स्त्रीयैश्च यतिभिः सपम् । ततो शिष्यगरोनाथ, शंखला बन्ध पूर्वकम् ॥ १३५ ॥ बन्धियत्योष्ट् लाङ्गले, विमदः सर्यतिःकृतः ॥ १३६॥ दग्डे पोडग्र साहस्त्रे रुप्यके यवनैस्तदा। गृहीते सविमुक्तस्त् शास्तात् स्ट्र घसेड़िया ॥१३७॥ पुनर्त्तु का संगीरूयाता तथा पीताम्वराभवत् । तस्याः ऋषदचइत्येवै सञ्चिष्याः सूरयस्ततः ॥१३८॥ विभ्यतोति विलोनास्ते रात्रौ यात्रांगचित्ररे । संगता राजपुरेते कलदः समजायत ॥१३६॥ सागरिकैर्धहांस्तत्र विज्ञप्ता राजपुरुषाः।

(38)

तन्ति श्रम्याथ भीतास्ते विसीनाभक्त सद्मनि । १९४०।। ग्रप्तदृश्यादिनिष्क्रान्ता पीताम्वर धराइचवे । रात्री प्रच्छान्नास्तेयाताः ततो लुक्कासग्रीमता ॥१४१॥ शाखा पोताम्बराचारन्या पीतवस्त्रं स्पथारणात । व्यतीते कलहेचापि पोतं वस्त्रं नतत्यजुः ॥१४२॥ बोधिता विजयेनापि देवयुक् सुरिलाचते । क्रुध्वातेन गणास्वीयाः निष्काश्यवहिरुज्भिताः ॥१४३॥ खरम्त्रादि दानेन तेथसर्वेतिरस्कृताः। ततस्तेषांचत्रेसर्वे निन्दां चक्र इच सर्वतः ॥१४४॥ स्वात्पोत्कर्षं दर्शयन्तो धर्चा भूर्खाञ्चपानिनः। वयन्तु साधवः सर्वे महात्रतधराः किल । ११४५॥ निरवद्य कार्र्यकारित्वात त्यागिनोनिष्परिग्रहाः । एतेत् यतयोनित्यं द्रव्य संग्रह कारकाः ॥१४६॥ रथादियानथातारः तथेमे सपरिग्रहाः। सर्वेषाग्रतस्तेच स्वात्योत्कर्ष प्रचिक्ररे ॥१४७॥ गुरोर्निन्दां यतर्तिन्दां नित्यं सर्वे पचित्ररे। श्चाखासासागरीयाख्या परावा गोर खो दिया ॥१४८॥ कोको लुकतपाख्याता धर्मसागर निह्वान् । तथा ये नीच जातीया तेषां संघे प्रवेशनम् ॥१४६॥ ऋषिर्मोधातिथिः कविचत् दुर्जनः कलद्वियः।

(१५)

वहिः कृतोपतात्तस्मात् के नापि हेतु ना स च ॥१५०॥ तदा विजयदानाऽरूय सुरेविशष्ये वभूवह। धर्म सागर नामाभूत् सोपिसर्वे विरोधकृत् ।।१५१॥ यतिभिः कलहंचक्रे गुर्वाज्ञायः विरोधकः। एवंनष्टा वभूवस्ते स्वयर्भस्य विरोधकाः ॥१५२॥ स्वमूळं खगडवनेते, तपा शाखाः कुयुक्तितः । जिनाज्ञा पाल कान् गच्छान्, ऋत्वा ज्ञाखा मपोसयत् ।१५३। यतयः शुद्ध भावामते, स्वेच्छा चारेण द्वषिताः । मपोत्स्त्रादि दानेन, श्रन्य शाखा मद्ष्यत् ॥ १५४ ॥ ज्तसूत्रं कथयन्तस्ते, वारिताश्च पुनः पुनः। सुरिविजय दानेन, चोत्सुत्रादि मरूपणातुः ॥ १५५ ॥ बहुकर्प परत्वेन, लोभ ग्रस्तेन चेतया। **ज्रत्युत्रकरणान्तुनं, विरामं न प्रचक्रिरे ॥ १५६ ॥** धर्म सागर कुद्गन्थान्, यः कश्चि द्वाचियष्यति । जिनाज्ञाभञ्जकः सःथः गुरु द्रोही भविष्यति ॥ १५७ ॥ पर्या संघाय दल्वातान् ग्रन्थान् रेतैव कल्पितान् । जलेमग्नां चतान दृत्वा, ततः शान्तिं वुजेत्सुधोः ॥ १५८ ॥ **पुननंदामनेग्रापे म्**रिया गुज्जरितदा । संभ्रापितः सपारोप्य रासभेधर्म सागरः ॥१५६॥ स्वगणान्निः सुतोध्यः गृहीतो पवनैशकैः।

(१६)

भवस्य गर्तकारोपे नियुक्तस्तत्त्त्रगोनसः ॥१६०॥ तहिनाधवनः कश्चिन म्रियेत यदितंशवप् । खनित्वा गर्च मध्येतं स्थापयन्ति तदर्भकाः ॥१६१॥ तत ग्रारभ्य शाखसा धर्म सागरकस्यवै । गोर खोदिया प्रसिद्धातः तपायुक्ता ततो भवत ॥१९२॥ रासभीया परंनाम रासभारोपगाचमा । तथापिते दुराचारं नोमुञ्चति कदाचन ॥१६३॥ तत्रव स्वगुरोर्निन्दां कुर्वाणो धर्मसागरः। स्वानुरूपैःसबंस्वीयै डिम्भैरुजियनोगतः ॥१६४॥ सोथ तत्रसमं मैत्र्यं वाम मार्गिकापालिकैः। र्मास मद्याशि भिश्चक्रे पन्त्राराधनमेवसः ॥१९५॥ तत इच कालिका मन्त्रा जिपताइच प्रसाधिताः। कालिकायाः प्रभावेन पार्गोच्चाटनादिषकम् १६६ ॥ सिद्धिं पाप्पाथ लोकेसः क्र रमन्त्राभि जापतः। सिद्धो बमुव हैस्साकं विरोधंच चकारसः १६७॥ ततः कापालिकैः पोक्तः वाकोलुक तपा ततः। त्यक्तस्स सर्वसंघेन दृष्टश्चेष द्राग्रही १६८॥ स्वंहीर विजयं पुत्रं स्थापियत्वास्व पृहके। विजयदानोथ सुरिवे स्वगतः शुद्ध संयपी १९६॥ श्र त्वायं भेदयापास तद्गरां धर्यसागरः।

((0)

मारगोच्चाटनैः कांदिचत् धर्षपामासतदगणाम् १७० ॥ मीतोभूतत्तत्त्रतीकारा शक्तोहीरयतीक्वरः। बलादाक्रम मागाय तस्मै कृद्धेन स्रिगा १७१॥ ततस्तेन पदत्तोहि रासभी विरूदोथवै। ततोपिन सभीवोवै मृद्धोर्वर्भ सागर १७२ ॥ दुर्बु द्धे स्तस्यतं सर्व दुराचारंदुरा क्रयम् । मन्त्राभिचारं सँबीच्य होरस्र्रि स्तहायबान् १७३ गणान्निष्काशयापास ततोथधर्म सागरम्। करोति कुधिवालूनं निषिद्धा सत्युक्त्रग्णम् १७४॥ **म**नुकुर्व न्ति तस्यैच शिष्याः पुत्राः कुन्द्धयः १७५ ॥ एवं युद्धे भट्छेथ काले याते श्रमीगते। स्वगरा पुनरानीताः स्वपत्या सागरा खलाः १७६॥ तथापि यतिभिः साद्धः कुर्वन्ति कलहञ्चते। परन्त्वस्यैवपत्तस्य रत्नांस्रुरिः करोतित्रै १७७॥ केचित्तो पतय स्त्यकत्वा कलहादन्य संघकै। सूरिं संस्थापयामासु रूच्चकै स्तेस्तु मानिताः १७८॥ तत श्रानन्द सूरविष्यः तपाभूहेव सूरितः। परचाततः पृथगभूता सागराः अधमाः खलाः १७६॥ देव सूरि तपा तस्पा ज्जाता शास्त्राथ सागरात्। तपा ऋषि मती याख्या सागरीया पराभिधा १८०॥

(१८)

त्रयोदश मिला शाखा सागरीया प्रकाश्यते । सापिन संगता ज्ञे या परस्पर विरोधिका १८१॥ देवसेन यतीन्द्रेशा कथितं शास्त्र सम्पतम्। स्त्रीर्णा प्रबज्या नैवास्ति सागरैसा निरूप्यते १८२॥ एवमुत्सत्र करणात् सर्वदा ऽसन्नि रूपणात् । गुरों निन्दा परत्वेन सागरीया नशस्यते १८३॥ विजयान्निस्सता सेयं सागरीया विलत्तसा। स्वमूलं खरड विस्वासा स्वात्मोकर्वः चिकी ति १८४॥ यस्याः कालोनवादेशः नवा शुद्धा परंपरा । नाचरो धर्म युक्तोऽस्ति साक्यं मानमुच्छति १८५॥ यभ्याः प्रवर्तकाः सर्वे परस्पर विनिन्दकाः। परान् स्वीयान् यतीन् सर्वे निन्दतोधर्म गर्हिताः १८६ ॥ स्वकल्पित पटावर्ल्यां लिखित्वाते परस्परम्। निन्दां कृत्वा परेषांक्ष्य स्वात्मोत्कर्षं प्रचिक्ररे १८७ ।। वादीन्द्र कुभ्भचन्द्रस्तु श्री राधन पुरे वरे । म्लेच्छ राजा भिभानंस भक्त्वा संस्थाप तोरगाम ॥ १८८ ॥ ध्वजा मारोप्पतत्रैव सागरी यान् जिगापसः । तेनैव सागरी यास्तु शिद्धिता वहुपात्रतः ॥ १८६ ॥ जपाकरोच तान् सर्वान् ग्रन्याधारात्पुवोधयन्। यद्वाचावतत्सर्वे तदाधारेगा तत्वतः॥ २८०॥

(18)

सागराणां च ग्रन्थाद्वै तपा गच्छेविवेचना ।
तत्व ज्ञानाय सर्वेषां सागराणां निरूपिता ॥१६१॥
न रागतो द्वेषतएव सम्यक् वर्गार्थंतत्वस्य विवेचनार्थ ।
सम्पादिता सूर्य्यपनेन साध्वी संज्ञम्यतांयत्रत्रु टिस्त्रु जाताः।१६२
बाखाहिनन्दचन्द्रे ब्दे पार्गपासे सितेत्वयम् ।
समाप्तिपगमत्तत्र तपागच्छविवेचना ॥१६३॥
इति श्रो सुर्य्यपन्नयति विरचिता तपाग्रच्छा विवेचना

समाप्ति सगमत्।



(२०)

सागरोत्पत्ति

पार्क्व यदासे सेवित श्री जिन पार्क्वनाथजी को नय-स्कारकर मैं सम्यग् प्रकारसे तपामतकी एवंसागरोंकी उत्पतिका वर्णन करता हुं॥१॥हे चायडालिक मतावसम्बियों ! मैं ने जिस मकार देखा भीर सुना है तद्वत् मैं उसका उद्घोख करता हूं। इसमें मेरा कुछ दोष नहीं है ॥ २ ॥ पाचीन कालमें, श्रेष्ट स्तम्भनपुर निवासी चैखवासी, पठधारी, पणी रत्न नापक एक श्राचार्य था।। ३।। इसने, एक समय, विधवाका पुत्र तथा विजातीय जगत चन्द्र नामक एक बालक को तीन सौ ३००) रुपये पर खरीदा ॥ ४ ॥ इस बालकने उस की शिष्यता स्त्री-कार करली। परन्तुः शिचादिने पर भी इसने अपनी श्रादत न छोड़ी। गुरुओं से सर्वदा कलह करता रहा ॥ ५ ॥ यह देख दुःखित हो कर श्री मिणरत्न जीने उसे अपने गणसे म्रालग कर दिया। वह भी क्रोधित हो कर ग्रहङ्कार से, गगाका परियाग कर चल दिया ॥ ६ ॥

यह दुष्ट अपने गुरू और द्सरों को द्षित करके, बक-द्यति धारण कर सबकी निन्दा करने के कारण, धिकारका पात्र बना। इसके बाद उसने उच्छिट चागडालोको सेवा की। देवी प्रसन्न होकर गगट हुई और उसने जगत चन्द्रको दरदान

(२१)

दिया कि जब तक वह अथवा उसका क्षिष्य सन्पार्ग की निन्दा करेगा और उन्मार्ग का प्रवर्तन तथा सत्सङ्गका खण्डन करेगा तव तक उसके मतकी दृद्धि होगी। इस प्रकार वर पदान कर भगवतो देवो लोप (अन्तर्ध्यान) हो गई। श्री जगत चन्द्र इस प्रकार चराडाली पतमें प्रष्टत हो श्रिधिकतर प्रसिद्ध हो गए। तत्पश्चात जगतचन्द्रजी श्रीचाएडाली देवीके प्रभावसे स्तम्भन क्रिया द्वारा अनेकों मूर्खो को अपने पत्त्वमें सम्पिलित करके सुरि वन कर किसी समय (गुजरात) देशमें श्रपने शिष्यों के साथ गए। इन्होंने उक्तसत्र का उच्चा-रण कर अपने मत की दृद्धिके लिए प्रयत्न किया। गुजरात-वासी राम चन्द्रादि संघोंने श्रो जगत चन्द्रजी को सभा के मध्यमें वादविवाद करने के लिए ग्राहवोन किया। परन्तु इन्होंने सभा में पदार्पणान किया। उस दुर्ब द्विने संघ की भी शिक्ता प्रहण न की और मार खाने पर भो उसने भ्रपना द्राग्रह न छोड़ा । संघसे वहिञ्कृत हो जानेको धपकी वाली बात सुन कर वह बहुत भयभीत हुआ। श्रतएव स्वतुल्य गुरु द्रोही श्री वाल चन्द्र को उसी संघ के किसो पतिको सौंपकर उसने शोघतासे अपनो राह ली अर्थातु रात्रिकोही भाग गया। जनताके समज्ञ उसने घोषित्र किया कि ऊंटपर चढ़कर वह श्रतिशीव्रता पूर्वक पत्तनपुर से स्तम्भन पुरमें श्राया है। जन-

(22)

ताने इसकी बातों को कल्पित समझ कर पूछा कि उसके भ्रकेले भानेका क्या कारण है ? उसने कहा कि कुछ उपद्रव की सम्भावनासे वह ऊंट सवारी द्वारा गुजर से श्राया है। जनताने इस बातको कल्पित समभ कर उन्हें श्रीष्ट्रिक (ऊंटसे ग्राया हुया) ग्रीर उपाधिही से उनके शिष्य भी श्रोष्ट्रिक कहलाए। तत्पश्चात् श्रो जगतचन्द्रने भ्रपने शिष्य और भक्तोंको एकत्रित कर क्रोध पूर्वक सबसे कलह करना शुरू किया। अतएव, इन्हें पुनः तपोष्ट्रिक नामक एक नई पदवी मिली। तप धातु सन्ताप अर्थ में होती है। पुरूष बचनों द्वारा चंकि वे मनुष्यों को सताते थे अतएव उनकी शाखा का नाम तपा पड़ा। वाह्य क्रिया मदर्शित करने वाळे जनताको सुग्ध करनेवाले; ब्राडम्बरसे तपस्त्री का रूप धारण कर विहार करनेवाले मनुष्यों को तपोटा कहते हैं। म्रतः इनकी शाखा का नाम तपोंटा भी पड़ा श्रो उचिष्टचाराडाली-देवी की सेवा द्वारा पाप्त वरों से ग्रहङ्कारी भीर क्रोधोन्पत्त हो नेके कारणा चागड।लिक भो कहे गये। ब्रज्ञान द्वारा नीच तपस्या करनेसे तथा ऊँट पर सवारो करने के कारगा उन क्रोध से लाल नेत्र वालों का भौष्ट्रिक नाम भी पड़ा।

कुछ समय बीतने पर उनके शिष्योंने घोषित किया कि तपस्या करने के कारणा वे लोग तपा कहे जाते हैं। परन्तु

(२३)

उनके शिष्य देवेन्द्र, चेम, कीरसादि द्वारा प्रशास ग्रन्थोंमें उनका तपा नाम कहीं नहीं पाया जाता। इससे सिद्ध होता है कि पूर्व शिष्यों का कथन सर्वथा ग्रसत्य है भ्रन्यथा श्रपने ग्रन्थोंमें तपा नाम उन्होंने भ्रवश्य श्रद्धित किया होता। श्रतएव विद्वान मगडली तपा नामकी निरुक्ति तथा शिष्यों द्वारा श्रत्यंकृत तपा के विषय में परिज्ञान करेगी। श्रर्थात् तपा पदवी को कल्पित ही स्वोकार करेगी।

श्रो जगत चन्द्रजीने भागते समय श्री वालचन्द्रजीसे कहा
या कि पालिकादि पितकपर्णों में वह उनकी की हुई उनके
पूज्यों को स्तुति करेगा। परन्तु श्री वालचन्द्र ने कुछ पतियों
द्वारा ग्रुप्तभावसे रिचात होकर भी अपने ग्रुरु-वाक्योंका पालन
नहीं किया। अतः मरकर वह व्यन्तर देव हुआ और पितिदिन
उसने संघमें उपद्रव पचाना प्रारम्भ किया इस दुष्टको व्यति कर
देख उन्होंने पाचाकादि पितकमणामें स्नोतस्य तथा सकलाईतको विद्न शान्तिके लिए स्थापनाकी। उसी भयसे आजतक
चायडालिक मतानुर्यापियोंने इस पद्धितको जारी (पचिलत)
रक्खा है। तभीसे उनकी की हुई स्तुतिका पाठकरना संसार
में प्रसिद्ध हुआ। क्योंकि चायडालिक मतानुसार उनके
विना पालिक प्रतिक्रमण हो ही नहीं सकता।

एक समय श्री जगतचन्द्र चित्रकूटमें गया। वहां विद्या

(28)

श्रुत बलसे प्रसिद्ध दिगम्बराचार्य्य रहते थे। श्रिभपान पूर्वक स्व-पतकी पुष्टिके लिये वह उनसे विवाद करनेके लिए खड़ा हुआ श्रीर प्रण किया श्रजेताको विजेता की शिष्यता स्वीकार करना होगा। भन्य था, उत्ते गर्दभ (गदहा) पर चढ़ा कर गाँव की परिक्रमा कराई जायगी। परिडतों के समदा वाद विवाद में, दिगम्बरियों के प्रक्रोत्तरके विचारमें हार कर भी जगतचन्द्रने उनकी शिष्यता स्वीकार न की। क्वेताम्बरीय सङ्घने तपौष्ट्रिक श्रीर त्तुद्र बालक तथा निन्दक समक्ष श्रपने सङ्घसे वहिस्कृत कर दिया । परन्तु, दिगम्बरीय सङ्घवालोंने पिरुटतों की राय से उसे गर्दभ पर चट्टा कर गांवका परि-भ्रमण कराया श्रीर हंसी के वतीर जगत्चन्द्र को वह गर्दभ विरुद (उपहार) में दे दिया । कालामुख हो स्तम्भन पुरमें जाकर अपने मक्तोंके सामने अपनी उत्कर्षता दिखाते हुए उसने गर्जना शुरू किया। उसने कहा कि दिगम्बरियों को पराजित कर उसने गर्दभ विरुद पोया है। इस बातको सत्य-ताको जानते हुए भो, उनके भक्तों ने उनका त्रादर किया।

जगत्चन्द्र ग्रपनी माताके गर्भ दोषसे मिथ्यावादी एवं प्रपञ्ची था। वह हृदयसे उदास होकर ग्रपने गुरुके सन्निकट गया: गुरुने उसे दुश्चरित्र जान उसको रद्या न को। तत्प-क्वात, उसने वस्तुपास नामक एक विश्विकसे मैत्री करली।

(**२**k:)

यह भी एक विधवाका लड़का था। श्रतः सज्जन हन्द उससे व्यवहार नहीं करते थे। जगत्वन्द्रने अपने श्रतुकूल वस्तु पालको सपक्ष उसे वसीभृत किया श्रीर उसके दिए हुए द्रव्योंसे श्रीरों को भी वसीभृत करके उसने एक सङ्घकी स्थापना की। तभीसे विणिकोंमें दशा श्रीर बोझा नामक दो जातियों की स्थापना हुई। विणिक जातियों में श्रति विरोध जारी हुआ। जनताने जगत्वन्द्रको वर्ण शंकर की पदवी दी परन्तु उसने काकवत् स्वभावके कारण तो भी श्रपने दुराग्रहका परिसाग न किया।

किसो समय चित्रवाल गच्छीय क्रिया कुञ्चल श्रृततम्पन्न उपाध्याय देव भद्रजीका वहाँ पदार्पण हुआ। बस्तुपाल की अनुमतिसे, अपना कलङ्क पिटानेके लिये जगत्चन्द्रजीने इनसे उप सम्पद अर्थात् दीचा ले इनकी शिष्यता स्वोकार करली। अर्थात् इनका शिष्य हो गया। मुनि सुन्दर स्र्रिने गुरुवलीमें कहा 'है कि जगतचन्द्रने देवभद्रसे उपसम्पदा दीचा ली थी।

मुनि सुन्दर सूरिका पाठ

किसी समय चैत्र पुरमें महावीरजोको प्रतिष्ठा करनेवाले चन्द्रगच्छमें धनेश्वर सूरि हुए। तभी से चैत्र बाल गच्छ हुआ। कुछ दिनोंके बाद गगी श्रो भुवनचन्दजी हुए। उनसे शुट

(२६)

संय्यम लेते वाले उपाध्याय देवफद्मजी की उत्पति हुई। श्री देवभद्जोसे जगत्चन्द्जी हुए उन्होंने उपसम्पदा विधिसे उन के भारको बहन किया। श्री विजयचन्द्जी देवभद्जी इनके दो शिष्य हुए। इनसे श्रीर भी सुरि हुए।

श्री वहत्करपकी टोका पशस्ति में लिखा है कि श्रीदेव भद्रजीके तीन शिष्य थे। उनके नाम क्रमशः (क) श्री चेम कीर्ति स्रिजो(ख)जैन शासन रूपो श्राकाशके सुर्य्य समान पद्-गन्तर जी श्रीर(ग)कृत पद्म जो थे। श्रपनी ज्योतिसे दिगदि-व्याप्त श्रीमान् धनेश्वरस्रिजी इनके गुरु थे चैत्रपुरके भूषणा स्वरूप तथा सुर्य्य रूप प्रवोधक श्री महावीरजोकी प्रतिष्ठाकारक श्रो भुवनेन्द्र स्रिजो श्री चैत्रवाल गच्छमें इनके गुरु हुए।

कुछ समय वाद इनसे प्रकाश स्वरूप श्री गुगा रत्न जो तथा श्री रोहणोजी की उत्पत्ति हुई। कामक्रोधादि शत्रु श्रोंके जेता, शद्धः संपमी, सचरित्र, सद्गुणो तथा शास्त्र कुशलो श्री देवमद्रजो इनके गुरु हुए। इनके तीन प्रसिद्ध शिष्य थे। जिनके नाम क्रमशः (श्र) श्रो जगत्चन्द्रजो (श्रा) देवेन्द्रसूरि जी तथा (इ) श्री विजयेन्द्र सूरिजो थे। दिगंत इनकी उज्वल कीर्तिसे धवलित होगया। इनकी प्रतिष्ठा, विजय-कीर्ति, संयम, सद्गुण, ज्योति तथा प्रकर निद्वत्ता जगत् प्रसिद्ध थो। इनके महत्व में इनके गुणोंसे मुग्य होकर सभो देवताओंने

इन्हें निम्नांकित शक्तियां प्रदान की:-भेक्सी स्थिरता, समुद्र सी श्रगाधता पृथ्वीसी सहन-शक्ति, सोमसी शीतलता श्रीर स्थ्यं सास्यलित तेज। इन्होंने शुभ भंत्रोंद्वारा बैतालको श्रा-धीन कर उत्तम सत्पुरुषकी साधनाकी। इनमें सबसे प्रसिद्ध महात्मा श्री विजयेन्द्र सूरि हुए। इनके हस्तावलम्बनसे (१) श्री बज्रसेन सूरि एवं, पद्मचंद यति तथा (ग) श्री चैम-कीति सूरि नामक तीन शिष्य हुए। विज्ञवर श्री चैम कीर्तिजीने लोकोषकारार्थ दृति कल्प नामक ग्रन्थ बनाया।

हित करुप ग्रन्थका निर्माण श्री विक्रम सम्वत् १३३२ ज्येष्ठ शुक्क दशमी, रविवार हस्त नत्तत्रमें हुत्रा था। उस समय श्री देवेन्द्र सुरि जी भी विद्यमान थे।

पुनः श्री धर्षस्वकी टीका की प्रशस्तिमें लिखा है कि
चैत्रवाल गच्छ में क्रमशः श्री भुवनचन्द्र जी हुए ।
इनका तेज समस्त संसार का हितैषी हुम्रा। श्वान्त वृति,
बिनेता पूज्य श्री देवमद्र गिर्णराज जी उनके शिष्य हुए।
स्वर्ण वर्ण, शुद्ध, तेजशील महात्मा यति, लोक प्रसिद्ध हुए।
इनके चरण कमलकी संवा द्वारा शुद्ध चित्त, शुभवोध, काम
क्रोध विजयी जगत प्रसिद्ध श्राजगच्चन्द्र सूरिजीकी जय हो!
जगत विसद्ध, यति पूज्य, श्रेष्ठ (क) देवेन्द्रसूरि तथा श्रो
विजयचन्द्र सूरि नामक इनके दा शिष्य थे। श्री देवेन्द्र

('२८)

सूरिजीने आत्मीय परकीय उपकारार्थ श्री धर्म रत्न की टोका सुखनोधके लिए प्रकाशित को । श्रो देवेन्द्र स्रि आदिने अपने २ ग्रन्थोंमें अपनो २ ग्रुरु परम्परा लिखो जो उस समय विद्यमान थे । इन्होंने श्री चैत्रवाल गच्छोय श्री जग-च्चन्द्रजी को तथा इनके ग्रुरुदेव भद्रजी उपाय्याय को इसीसे बताया ।

मुनि सुन्दर सूरिजी ने अपनी कल्पित पद्दाविलमें इस प्रकार लिखा है कि समस्त जगत भूषणवत श्री मुनिन्द्र गच्छमें श्री (क) श्री देवेन्द्र सूरि (ख) श्री विजयेन्द्र सूरि (ग) श्रो देवभद्र सूरिजी पैदा हुए। लोक प्रसिद्ध कीर्ति-वान् श्री देवभद्रजी, गणीके राज्यमें असधिक सम्मानित हुए इसने विद्वान, सपरिच्छद श्री जगत चन्द्र जी को गुरू बनोया और सेवा की।

इस लेखमें पाञ्चात्य कालीन सूरियों ने श्री जगचन्द्र जी को श्री देवभद्रादिकोंका गुरू नियुक्त किया है।' दूसरी जगह लिखा है कि श्री देवभद्र जी से दीचा लेकर यति हुए थे।

श्रीदेवभद्रजीके उपदेशसे श्री जगच्चन्द् जीने क्रियोद्धार किया। जिस प्रकार ब्राह्मणोके ब्रह्म पूज्य हैं भीर ब्राह्मण । तदनुसार गुरू पूज्य शिष्य भ्रीर भ्रिष्य पूज्य गुरू हुए । हो

(२१)

सकता है कि जगच्चन्द्र जो के शिष्पोंने श्री चैत्रवास गच्छीप देवभद्र गुरू नाम छिपालिया हो उससे इनको गुरू परम्परा नहीं मिलती।

अब इसको अनिश्वित पर पूर्व को कथावितको सन्पु-ख रख पाठक व्वयं हो विचार करें-निर्णय करें सत्य कोन है और अवत्य कौन ?

तत्पश्चीत्, जगचन्द्रजो ने स्वशिष्य दृन्दोंको स्वगुरू भाई श्री देवेन्द्र सूरिजो के हवाले किया और स्वर्गगामी हुए। शिष्य पएडजो, देवेन्द्र जो यति को गुरूपान सेवा करने लगो। श्री देवेन्द्रजो के स्वर्गा रोहनके बाद इन्होंने श्री विज येन्द्रजो को सेवा को। श्री विजयेन्द्र सूरिके सम्मान पूर्वक पालन करनेप्र भी शिष्पोंने उनको आधोनता स्वोकार न को।

तत्त्रश्चात्, शिष्पोंने मेदान्यत हो वृद्ध २ यतियोंको। स्वाधानता स्वीकार कर विजयेन्द्र सूरिके गच्छका परित्याग किया। श्री देवेन्द्र सूरिके पट पर श्री २ वर्ष रूचि जी ने गद्दा पाई। ये धर्म घोष नायसे जगत् मान्य श्रोर सर्व श्रिय हुए। इसके बाट उन्न गच्छक्ते श्राज्ञण हो, स्वग्रुष्ठ की स्थापना कर इन्होंन श्री विजयेन्द्र सूरि की शठवत् उस शिष्य पण्डला पहोद्धत हो स्वकल्पित पहाबन्नोमें त्री विजयेन्द्र जो की निन्दात्यक तथा श्राह्मोटक स्थापक श्राह्मोचना

(30)

की। तंपके प्रभावसे विजयेन्द्र स्रिकी टहद्शाखा हुई श्रीर जगचन्द्रके शिष्योंकी लघा। पुनः इन्होंने स्वकल्पित पहावित्त में लिखा है कि देवेन्द्र स्रिकी लघु शाखा हुई। जगचंद्रके शिष्योंकी नहीं। क्या सत्यवादियों के लिये यही सत्य है?

देवेन्द्र, दोम, कीर्त्यादि स्रियोंने शास्त्रोंमें केवल प्रशंसा को है। उन्होंने श्राप सदश किसी भी स्थानपर किसीकी निन्दा नहीं की है। श्रापके कथनोंमें केवल भेदही प्रदीप्त होता है। पिछत नहीं।

धर्मघोष जी ने अपने मतकी रत्नाके लिये अन्य दुर्गति
पदायक, उग्र स्वभाविक मंत्रोंको आराधना की। इन्होंने
बहुत प्रयत्नसे मारगा, मोहन, उच्चाटन तथा वश्नो करगादि
मंत्रोंकी साधना की। इन्हीं मन्त्रोद्वारा इन्होने चैत्र वोल
गच्छीय संघ को संतप्त किया। संघको संतापित करने
से ही इनका (इनलोगोंका) नाम तपागच्छ पड़ा। यानवाही तथा परिग्रही होने पर भी इनके वर्गों ने अपने यतित्व
को संसार में प्रसिद्ध किया।

परम्परासे महावीर स्वामी द्वारा हमने हो पट्टाविल प्राप्त की है चैत्रगणा वाळीने नहीं। इस प्रकार घोषित करनेमें वे जरा भी लिज्जित नहीं होते। क्योंकि

(38)

जिनको गुरु परम्परा ही कल्पित है, जो किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकता वह पट्टाधिकारी किस प्रकार हो सकता है? इसका पाटक गएा ही विचार करें। गएगा धीशोंसे बहिष्कृत हो, धमें घोष जो के आश्रपमें रह कर इन्होंने अपनी परम्पराको उलटो सिद्धि की। उसी समय जगच्च जो गुरू तुल्य हुए और वह श्री उद्योतन सूरिजीके स्थानापन्न हुए।

मालूम होता है उसी समय क्रियाथान कोई मणि रतन नामक सूरि हुए। इसमें सन्देह करनेकी कोई गुआइस नहीं। क्योंकि एक नामके अनेकों व्यक्ति हो सकते हैं। धर्म घोषादिक सरियों ने उसो मणि रतन जो को छेकर अपनी गुरू परम्परा लिखो है। जगच्चन्द्र जो हे स्वर्गरोहण पश्वात, उपाध्याय दैवभद्रजी देवेन्द्र जी तथा विजयेन्द्र जी भी शिष्य माने गए हैं। उसो समय उद्योतन सुरि के संतान स्थानीय संविग्न उम्र विहारो यति हुए क्यों कि सभी किया कुशली सुने जाते हैं। त्रातः वे दूसरे दीचा किस प्रकार ग्रहण कर सकते हैं ? दीचा प्रहण करने से जिनचन्द्र जी इन्हीं के शिष्य धो जाते हैं, सो हो नहीं सकता। वे किसी दूसरे मणि रत्न के शिष्य होंगे। यदि इन्हें इसी मणि रतन जी का शिष्य माना जाय तो भी युक्ति संगत प्रतीत नहीं होता। क्यों कि उनके परिवारों को परित्याग कर दूसरेको गुरु स्वीकार करना युक्ति युक्त नहीं हैं।

(३२)

वै प्रवाल गण्डसे सभी शिक्षाये प्राप्त कर उन्हों की किन्दा करने वे संसारमें होना चारी और अध्यों हुए। इतना होने पर भी आपरोगों ने अपनी पट्टाविटमें उनकी प्रश्रंसा (स्तुति) कर उन्हें पूजनीय बनाया है। इस बातको आप लोगों ने भी स्वीकार किया है। परन्तु, निन्दा और प्रशंसा दोनों किस प्रकार सम्भव हो सकता है? अतः सिद्ध हुआ कि जगच्चन्द्र जी इनके शिष्य न थे।

गुरुको अहण में प्रशंसा त्याग हो सकता है कि अथच, निन्दा किया हो तो इस प्रकारके गुरु निन्दको को कीन पण्डित यति मानने के लिए वाध्य हो सकता है? वे हुए असत्य स्तुति कर्ता और आप असत्य वादी। इस अवस्थामें श्राप-होगों में इनकी पूजा किस तरह प्रसिद्ध हुई। **चौत्रवासी कोई** दूसरा ही होगा जिससे काल्पत गुरू परम्परा बनाई गई होगी। क्यों कि इससे दूसरे की निन्दा स्तुति सम्मवित होती है। मांभण श्रे रटकी बनाई हुई शत्रु जय गिरिपर बारह योजन लम्बी सोना चांदीकी बनी हुई एक ध्वजा है। वहां महातमा देवेन्द्र सरि यतिजीका आगमन और झ्याख्यान होगा । इसी प्रकार प्रहुलादन स्थानपर यमगा बोडशिका रात्रिका जत हुआ, इत्यादि ये समी कतें क्योल कल्पित सिद्ध होती हैं। तपस्या करनेसे (प्रसन्नहों) सम्बत १२८५ वर्षमें विद्यमान राजाने तपा नामक उपाधि प्रदाद की है, मुनि छुन्दरस्रिः द्वारा उपरोक्त कथनका लिखा जाना इत्याति सभी वार्ते कल्पित ही सिद्ध होती हैं। कारण इसका यह

((33:)

है कि दीक्षी, तथा श्राचारये सभी एक समय सावित नहीं हो सकते। उस सयय जगचन्द्रजीको कोई जानता भी न था। पाठक इसकी सत्यता स्वयं विचारलें। यदि आपको विदित्त हो तो कृपया साफ २ वतानेका कष्ट उठावें कि किस पक्ष, मासा तिथि, दिन और वर्षों ये सभी घटनायें घटित हुई। राजाओंसे विद्द किस समय प्राप्त हुआ। । ये सभी वार्ते क्रपेल कल्पित सिद्ध होती हैं। आप इसका ठीक २ उत्तर वें अन्यथा आपकी सभी वार्ते भूठी मानी जायगी।

कोई मनुष्य देवेन्द्र स्रिके शिष्य विद्यानन्दजी का सम्वत् मानता है तो दूसरा देवेन्द्रजीके पद मिलनेका समय एक सम्वत् १३२३ वे कम वर्ष बतलाता है तो दूसरा सम्वत् १३०५ वेकमवर्ष इस प्रकार परस्पर विरुद्धता पाई जाती है। अतपन से सभी वार्ते कपोल कल्पित सिद्ध होती है। पश्चात् कालीन स्रियोंने मले ही इसकी सत्यता स्रीकार की हो। परन्तु पूर्वकालिक विद्वान इसे कहापि स्रीकार नहीं कर सकते।

इस प्रकार तपा शास्त्राके शिष्योंकी उत्पत्ति बताई है कालकम से इनकी अनेकों शास्त्रायें हो गई। सेनामें विरुद्द प्राप्त करने वाले कुभटके सदूश अर्हकारी होनेके कारण ये सब आपसमें बादा-विवाद किया करते हैं।

इस प्रकार देव सुरिजीसे ऊंट घर्सेड्या शासा हुई। इन तपा गच्छके प्रवर्तक विजयदेवजी हुए । ऊंट घर्सेड्या शासाकी कथा निम्नाङ्कित रित्यासुसार बताई गई है:—

(38)

किसी समय सागरिक शाखावालों के प्रपञ्चसे यतियों के साथ महान् कलद उपियत हुआ। इसका प्रभाव अपने यतियों पर भी पड़ा। तत्पश्चात् यवन नरेशने इन्हें सुंखलासे ऊंटकी पुच्छ में वांधकर इनका मदच्र किया और सोलड हजार रुपया दण्ड स्वरूप प्राप्त करनेपर उन्हें भुक्त किया। तभीसे ऊंटघसेड़िया नामक इनकी शाखा हुई।

इसके वाद लुकासणी पवं पिताम्बरा नामक दो शाखायें उपस्थित हुई जिनका अध्यत्त विजय स्रिजीका शिष्य हुआ। इसकी कथा इस प्रकार बताई जाती है:—

सागरिकों के भयसे छिपकर ये लोग प्रायः रातमें यात्रा कि या करते थे। किसी समय वे सभी राजपुरमें एकत्रित हुए और परस्पर कलह शुक्ष हुआ। तत्पाश्चात्, सागरिकों ने राजपुरके कर्म चारियों के निकट फरियाद की। इससे भयभीत हो कुछ लोगों ने स्व-भक्तों के घरों में शरण पाई अर्थात् छिप गए और कुछ लोगों ने स्व-भक्तों के घरों में शरण पाई अर्थात् छिप गए और कुछ लोग पिताम्बर वस्त्र, धारण कर छिपे २ रात्रिमें ही भाग खढ़े हुए। कलह बोतने पर थ्री विजयदेवजों के समक्ताने से भो इन्हों ने अपने पीत वस्त्रों का लाग नहीं किया। अत्पन्न, इनकी शाखायें लुका-सणी तथा पिताम्बरा नामसे पुकारी गई। ये, खर-मूत्रादि की छीटों से तिरस्कृत कर अपने गड़्छ से अलग कर दिर गए। इससे कुछ हो वे इस गक्छ को निन्दा करने लगे। उनका कहना था कि हम लोग महाबतधारो साधु हैं। सबेदों ही श्रेष हीन कार्य्य करनेसे त्यागी और अपरिम्नही हैं। ये सबैदा द्वय-संम्नही

हैं। रथ और घोड़ेकी सवारी किया करते हैं। अःएव, ये सपर् रिप्रही हैं। इस प्रकार इन्होंने सबसे अपनी प्रशंसा और गुरु तथा यतियोंकी निन्दा की। तबसे सागरिका शाबा अलग हुई।

इन्होंने धमें सागरजी से छिपाकर अपने कर्मानुसार गोर खोदिया, काका, उल्लूक और तपादि शाखाओंका निर्माण किया। नीच जातियां भी इन ग्राखाओंमें प्रविष्ट हो सकती थीं।

मेधातिथि नामक कोई दुर्जन था। किसी कारण्वश वह उस गच्छसे वाहर कर दिया गया। वह विजयदान स्रिजीका शिष्य हुआ। कुछ दिनोंके वाद उसका नाम धर्मसागर पड़ा। वह सब का विगेधी तथा गुर्वाक्षा उलङ्कनकारी हुआ। जिनाका पालक गच्छोंको परित्याग कर इसने कुयुक्तिसे अपने मूलका खण्डन करके तथा नामक शाखाका निर्माण किया। स्त्रेच्छाचारसे, इस ने, व्यर्थही उत्सूत्रादि बनानेके दोषसे दूसरे गच्छोंको दूषितकर विजय शाखाको भी दूषित किया। विजयदान स्रिजीके मना करने पर भी लोभग्रस्त हो इसने उत्स्त्रादिका बनाना बन्द न किया। धर्म सागर-रचित ग्रन्थोंका जो पाठ करते हैं अथवा सुनते हैं उन्हें जिनाज्ञा-भङ्गका दोष लगता है और वे गुरु द्रोही कहे जाते हैं। उचित तो यह होता कि उन ग्रन्थोंको जलमें डुबो देते। तभी शान्ति प्राप्ति हो सकती थी।

किसी समय गुजरातके बन्दासन ब्राममें किसी सूरिने इन्हें गधेपर चढ़वाकर ब्रामकी प्रदक्षिणा करवाई। ज्यों हो अपने गण का परित्याग कर ये भागे जा रहे थे। त्योंहो यवन नृपति द्वारा

(३६)

पकड़े गए और कन्न (गोर) खोदनेके काममें प्रवृत्त किये गये तब से किसी भी मृतक मुसलमान के लिये कबर खोदना हो इनका काम था। तमों से धर्मसागर की शाखा गोर खोदिया नामसे पुकारी जानेलगी। पदचात तपा शब्द जोड़ दिया गया। रासम पर चढ़नेसे रासमियां शाखा हुई। इतना होने पर भो इसने अपना दुराचरा न छोड़ा।

तत्पश्चात् गुरु निन्दक धर्म सागर खानुकूल आत्मीय शिष्योंके साथ उड्जेन चला गया। वहाँ उसने मासमदाहारी वाम मार्गि-योंसे तथा कापालिकोंसे मैत्री कर मन्त्राराधन किया। कालिकाके प्रभावसे मारण, उच्चांटनादि मन्त्रोंको सिद्ध कर, क्र्र-मन्त्रों द्वारा बाममागियों से भी उसने कलह ठानी। अत्रप्य बाममागियोंने उसे काक, उल्क और तपादि पद्वियों से विभूषित किया।

कुछ दिनोंके पश्चात्, शुद्ध संयमी विजय दान स्रिजी अपने पुत्र हीरविजय जी को गद्दी देकर स्वर्गवासी हुए। यह सुन धर्म सागरने इनके गण को फोड़ कर (विलय) मारणोचाटनादि मंत्रीं से इन्हें दुःख दिया। हीर विजयजो प्रतिकार करनेमें असमर्थ थे। अतएव उन्हें इन अत्याचारां को सहना पड़ा। रासभ-रासमो के श्लाकमण सदृश इसका आक्रमण देख हीर वियजीने इन्हें रासभी पद्दी दी। समय पाकर हीर विजयजी ने समर्थ होकर इसके दुराचार, दुराक्रमण तथा मन्त्रामिचार को देख इसे गच्छसे वहि-शक्त कर दिया। उस मूर्खने कुद्ध हो दुर्बु द्विसे अपने मूर्ख शिष्यों सहित निषिद्ध, असत् निहपण करना शुक्त किया।

(39)

कुछ समयके वाद कलह शांन्त होनेपर हीर विजयस्रिजीने, धर्मसागर को अपने गच्छमें मिला लिया। परन्तु यतियोंके साथ कलह करना इसने न छोड़ा। हीर विजय स्रिजीने भी इसका पक्ष प्रहण किया। इस पच्चपातको देखकर कई यतियोंने इनके संघको परित्याग कर किसी अन्य स्रिके आश्रयमें दूसरा संघ खापित किया और पूज्य हुए। तबसे देव स्रिके आनन्द स्रित्या शाखा हुई। कुछ दिनोंके बाद सागरोंने हीर विजय स्रिके गणको भी परित्याग कर दिया। तबसे देव स्रूरितपा ऋषिमत तपा और सागर तपा नामक भिन्न २ शाखाएं हो गई।

सागरिया शाखा तेरह प्रकार की वर्ताई गई हैं। परन्तु वे भी पारस्परिक विरोध के कारण संगत युक्त नहीं हैं। देव सूरिजी ने स्त्री को दोन्ना धारण करना शास्त्रसंगत कहा है। परन्तु सागरियों ने उसका विरोध किया है। इस प्रकार सर्वदा उत्सूत्र अमत्-वस्तु-निरूपण तथा गुरू-निन्दा करने के कारण सागरिया शाखा अच्छी नहीं कही जाती। विजय शाखोत्पन्न यह विरुक्षण सागरिया शाखा ख-मूल-खण्डन कर आत्मोत्कर्ष करना चाहती है। जिस शाखा का न कोई देश है न कोल न गुद्ध परम्परा है न धर्म-युत आवार विवार। इस अवस्था में यह शाखा किस प्रकार मान (आदर) पाने को आंधकारिणी हो सकती है। इस शाखा का प्रवर्तक आत्मीय परकीय यतियोंका निन्दक धर्म सागर था। अतः उसधर्म निन्दक ने स्वकृत पट्टाविस्में परस्पर निन्दा कर अपना उत्कर्ष बढ़ाया है। श्री राधन पुरमें वादीन्द्र कुम्म चन्द्र

(३८)

जी सूरिने म्लेच्छ राजका मानमर्दनकर तथा ध्वजा तोरण स्थापित कर सागरीय शाखा को पराजित किया था। इन्होंने यह पूर्वक सागरियों को शिच्तित बनाने का प्रयत्न किया है। इनके उपका रार्थ श्री वादीन्द्र कुम्भचन्द्र सूरिजीके प्रन्थावलोकन कर कथनकी विवेचना कर उसके संग्रह मूलाधार पर सागरियों का ग्रन्थावलोकन कर और शुद्ध युक्ति के आधार पर सवको यथार्थ तत्व सम-भने के लिए मैंने इस पुस्तक को लिखने का प्रयत्न किया है। किसी रागद्वेषसे नहीं किन्तु सागरी शाखाका यथार्थ तत्व जाननेके लिये ही मैंने इस पुस्तक को लिखनेका प्रयत्न किया है अतएव इसकी मुटियों को पण्डित वर ज्ञाम करेंगे।

"समान्र"

नोर-----

इस पुस्तकके अनुसन्धान करने में अथवा लिखने में जिन २ महाशयों से प्रत्यक्षा--प्रत्यक्ष में सहायता मिळी है उनका मैं सर्वदा इतक्ष हूं।



